बुद्ध और उनके धम्म का भविष्य

लेखक

बोधिसत्व डा. भीमराव आम्बेडकर

बुद्ध और उनके धम्म का भविष्य

लेखक

बोधिसत्व डा. भीमराव आम्बेडकर

अनुवाद

धम्मचारी विमलकीर्ती

१९९६

भूमिका

१९५० में बौद्ध धम्म का स्वीकार करने के निश्चय करने के साथ - साथ ही डा. बाबासाहेब अम्बेड़कर ने उनके भविष्य के बारे में भी गहरा चिंतन किया था। विषमता रहित नये भारत के निर्माण हेतु वे स्वयं बरसों से चिंतन एवं संघर्ष करते रहे। १९४७ को भारत आजाद हुआ। संविधान सभा ने डा. अम्बेडकर को संविधान के मसौदा समिति का अध्यक्ष चुनकर एक ऐतिहासिक कदम उठाया। संविधान के जरिए हर भारतवासी के लिए एक मनुष्य, एक मूल्य और एक मत का तत्व अपनाकर भारत देश राजनैतिक दृष्टि से समानता को प्राप्त हुआ। स्वतंत्रता, समता एवं बंधुता पर आधारित नव समाज के निर्माण कार्य में एक कदम आगे बढा। फिर भी वर पर्याप्त नहीं वह था। क्यों कि यह तत्व अभी राष्ट्र के सामाजिक और आर्थिक जीवन में लागू होने थे। इसलिए २९ नवंबर १९४९ को भारतीय संविधान सभा में संविधान पारित होते समय उन्होंने राष्ट्र को चेतावनी दी थी की "२६ जनवरी १९५० को हम राजनैतिक जीवन में समान होंगे और सामाजिक तथा आर्थिक जीवन में असमान। हमें इस विषमता को जल्द से जल्द हटाना होगा, वरना उस विषमता के शिकार हुए लोग राजनैतिक प्रजातंत्र का यह ढाँचा उखाडकर फेंक देंगे।"

चूँ कि समाज का नियमन केवल कानून से नहीं

होता इसलिए जरुरत होती है नैतिकता की, नैतिकता पर आधारित धर्म की । डा. अम्बेडकर इसका सही महत्व पहचानते थे । इसीलिए इस निबन्ध में कहते हैं - "यदि नये जगत् को - और यह ध्यान रहे कि यह नया जगत् पुराने जगत् से सर्वथा भिन्न है - किसी धर्म को अपनाना ही हो - और नये जगत् को पुराने जगत् की अपेक्षा धर्म की अत्यधिक जरुरत है - तो वह बुद्ध का धम्म ही हो सकता है ।"

डा. अम्बेडकर की मान्यता थी कि वर्ण-व्यवस्था पर आधारित विषमताग्रस्त समाज को समता में ढालने के लिए बौद्ध धम्म के सिवाय कोई चारा नहीं है । लेकिन वह बौद्ध धम्म आधुनिक युग में कैसे लागू होता है ? और उसके प्रचार और प्रसार के लिए क्या करना चाहिए ? इन प्रश्नों पर आधारित उनका चिन्तन यहां प्रस्तुत है, उनकी अपनी भाषामें। यह लेख सर्व प्रथम महाबोधि सोसायटी, कलकत्ता की मासिक पत्रिका 'महाबोधि' में मई १९५० में प्रकाशित हुआ था । उसका हिंदी में अनुवाद करने की तथा छपाने की अनुमति देने के कारण हम उनके आभारी है ।

धम्मचारी विमलकीर्ती
धम्मचक्र प्रवर्तन महाविहार,
दापोडी, पुणे - ४११ ०१२.
तारीख : १७ जनवरी १९९६.

बुद्ध और उनके धम्म का भविष्य

भाग १

कई धर्म संस्थापकों में से ऐसे चार धर्म संस्थापक हैं जिनके धर्मोंने न केवल भूतकाल में विश्व को प्रेरणा दी थी बल्कि आज भी कतिपय लागोंको वैसे ही प्रभावित कर रहे हैं। वे हैं बुद्ध, ईसा मसिह, मोहम्मद और कृष्ण। इन चारों के व्यक्तित्व की और अपने धर्म के प्रचारार्थ उन्होंने अपनाए हुए ढंगों की एक ओर बुद्ध से और दूसरी ओर बाकी सब के साथ तुलना करने पर ऐसी कुछ भिन्नताओं का रहस्योद्घाटन होता है जो महत्वहीन नहीं है।

पहली बात जो बुद्ध को शेष सभी से निराला ठहराती है, वह है उनके व्यक्तिगत महात्म्य का त्याग। बाइबल की पूरी किताब में ईसा मसिह ने जोर देकर इस बात को कहा है कि वे साक्षात् ईश्वरपुत्र हैं और जो लोग ईश्वर के राज्य - स्वर्ग - में प्रवेश करना चाहते हैं, उनके सभी प्रयास विफल ही होंगे अगर उन्होंने ईसा मसिह को ईश्वरपुत्र के रूप में स्वीकार नहीं किया। मुहम्मद इससे भी एक कदम आगे बढे। ईसा मसिह के समान उन्होंने भी ऐसा दावा किया कि वे धरती पर खुदा के पैगंबर याने दूत बनकर आये हैं। लेकिन उन्होंने आगे इस बात को जोर देकर कहा कि वे खुदा के आखरी पैगंबर हैं। इसी कारण से उन्होंने यह घोषणा की, कि मुक्ति चाहनेवालों को न केवल उन्हें खुदा का पैगंबर मानना पडेगा बल्कि यह भी स्वीकार करना होगा कि वह आखरी पैगंबर हैं। कृष्ण तो ईसा मसिह और मुहम्मद से भी और एक कदम आगे बढ़े। केवल ईश्वरपुत्र अथवा खुदा का पैगंबर बनने से संतुष्ट होना उन्हें

તારણ:- સરખામણી
કુરાન 23 વર્ષની અવધિમાં આવશ્યકતાનુસાર ટુકડે ટુકડે આપ્યો- [illegible] અવસરે ઉતારી આવ્યું છે
[illegible]

स्वीकार नहीं था । खुदा का आखरी पैगंबर बनने में भी उन्हें कोई तृप्ती नहीं थी । इतना ही नहीं बल्कि अपने आप को ईश्वर कहलाने से भी वे तृप्त नहीं हुए । उन्होंने दावा किया कि वे खुद साक्षात् 'परमेश्वर' हैं या उनके भक्तगण की मान्यता के अनुसार 'देवाधिदेव' हैं । इस प्रकार अपनी व्यक्तिगत प्रतिष्ठा को बलात प्रस्थापित करने की अहंकार भरी चेष्टा बुद्ध ने कभी नहीं की । उन्होंने एक मनुष्य के पुत्र होने के नाते जन्म पाया था, और एक साधारण पुरुष बने रहने में तथा एक साधारण पुरुष के नाते अपनी धम्मदेसना देने में वह संतुष्ट थे । उन्होंने कभी अपनी जन्म अलौकिक होने की या तो अपने पास कोई अलौकिक शक्ति होने की बात नहीं की, ना ही अपनी अलौकिक शक्ति के प्रदर्शन हेतु कोई चमत्कार दिखाए । बुद्ध ने मार्गदाता और मोक्षदाता में स्पष्ट भेद किया। ईसा मसिह, मुहम्मद और कृष्ण ने अपने आप को *मोक्षदाता* की भूमिका में कायम किया । मात्र बुद्ध *मार्गदाता* की भूमिका निभाने से संतुष्ट थे।

इन चार धर्म-संस्थापकों के बीच और भी एक भेद है। ईसा मसिह और मुहम्मद इन दोनों ने भी यह दावा किया हैं कि उनकी शिक्षा स्खलनशील याने झूठ साबित होनेवाली नहीं है और इसलिए किसी भी संदेह से परे है । कृष्ण ने तो स्वयं को देवाधिदेव घोषित किया था । इसलिए उसने जो कुछ शिक्षा दी वह ईश्वरवाणी होने से तथा प्रत्यक्ष ईश्वरमुख से प्रकट होने से तो असली और अंतिम थी ही, और उसके स्खलनशील या झूठ होने का तो कोई सवाल ही नहीं उठता था । बुद्ध ने अपनी शिक्षा के लिए अस्खलनशील या झूठ साबित न होने का कोई दावा नहीं किया है । *'महापरिनिब्बाणसुत्त'* में आनंद को संबोधित कर उन्होंने बताया है कि उनका धम्म तर्कसंगत और अनुभव पर आधारित

યદા યદા હી ધર્મસ્ય - (ગીતા. 4:7) ધર્મગ્લાનિ અને અધર્મનો ઉદય થાય ત્યારે, સાધુરૂપ અને દુષ્ટોના સંહાર માટે [illegible] (4:8) ધર્મ સ્થાપના માટે હું યુગે યુગે પ્રગટ થાઉં છું.

Dh. Vivekbhadra

है और उनके अनुयायियों को चाहिए कि वे इस शिक्षा को केवल इस कारण सही और स्वीकारणीय हीं माने कि वह उन (बुद्ध) से प्राप्त हुई है । यह शिक्षा तर्कसंगत और अनुभव पर आधारित होने से यदि किसी समय और किसी विशेष स्थिति में वह लागू नहीं होती हो, तो वे (अनुयायी) चाहे तो उसमें सुधार कर सकते हैं, या तो गैरलागू शिक्षा को त्याग भी सकते हैं । वे चाहते थे कि उनके धम्मपर भूतकाल के मुर्दा बोझ न लादे जाएं। वे चाहते थे कि उनका धम्म सदाबहार रहे और सभी समय काम आएं यही कारण था कि जरुरत पड़ने पर अपने अनुयायियों को उन्होंने अपनी शिक्षा में समयानुकूल काट - छाँट करने की स्वतंत्रता दे रखी है । ऐसा करने का साहस अन्य किसी भी धर्म-संस्थापक ने नहीं दिखाया है । वे ऐसी स्वतंत्रता देने से डरते थे । कारण उन्हें इस बात का डर था कि अनुयायियों को अपनी शिक्षा में सुधार करने की स्वतंत्रता देने से कहीं वे उसका इस्तेमाल अपने बन-बनाये ढाँचे को गिराने में न करें । बुद्ध को ऐसा डर नहीं था । उनको अपनी शिक्षा की नींब पर पूरा भरोसा था । वे भलीभाँती जानते थे कि सब से भयंकर मूर्तिभंजक भी उनके धम्म के आंतरिक हिस्से को नष्ट नहीं कर पाएगा ।

भाग २

ऐसी है बुद्ध की अद्वितीय अवस्था । लेकिन उनके धम्म की अवस्था कैसी है ? उनके विपक्षियों द्वारा स्थापित धर्मों के साथ वह कैसे मेल खाता है ?

आइए, तो पहले हम बौद्ध धम्म की तुलना हिंदु धर्म से करें । यहाँ उपलब्ध इस थोड़ी सी जगह में इस तुलना को बहुत सीमित रखना ही पड़ेगा केवल दो मुद्दों तक ही ।

हिंदु धर्म एक ऐसा धर्म है जो सदाचार पर आधारित नहीं है । जो कुछ सदाचार हम उसमें देखते हैं वह उसका अखण्डात्मक अंग नहीं हैं। उसका निर्माण धर्म के ढाँचे से जुड़ा नहीं है । वह एक पृथक् शक्ति है, जो हिंदु धर्म के आदर्शों के नहीं अपितु सामाजिक आवश्यकताओं के कारण टिकी हुई है । बुद्ध का धम्म ही सदाचार है । यह धम्म के ढाँचे क़ी आंतरिक रचना से जुड़ी चीज हैं । बुद्ध धम्म अगर सदाचार से परे हो तो धम्म नहीं रहता । यह सच है कि बौद्ध धम्म में ईश्वर नहीं है । ईश्वर के स्थान पर वहाँ सदाचार स्थापित है । दूसरे धर्मों में ईश्वर का जो स्थान है, वही बौद्ध धम्म में सदाचार का है।

बुद्ध ने 'धम्म' शब्द की सब से क्रांतिकारी व्याख्या की है, यह बात शायद ही समझी जाती है । 'धम्म' शब्द का वैदिकों ने किया अर्थ किसी भी तरह सदाचार नहीं दर्शाता । धर्म को जिस अर्थ में ब्राह्मणों ने स्पष्ट किया है और जिस अर्थ मे जैमिनी के पूर्व मीमांसा में प्रतिपादित किया गया है, वह कुछ कर्मों के करने के सिवाय अथवा और रोमन लोगों के शब्दों में धार्मिक आचार-विधिओं के सिवाय और कुछ नहीं था । ब्राह्मणों के विचार में धर्म के माने यज्ञ-याग और उन में देवताओं को दिये जानेवाले पशुबलि का कर्मकाण्ड़ इतना ही अर्थ था । ब्राह्मणों के वैदिक धर्म का यही सार था । सदाचार से उसका कोई सरोकार नहीं था ।

बुद्ध ने *'धम्म'* शब्द का प्रयोग जिस अर्थ से किया है उसका धार्मिक आचार-विधि तथा कर्मकांड़ से कोई सरोकार नहीं था । वास्ताविक उन्होंने यज्ञ-याग को धर्म का सार मानने से साफ इन्कार किया है । उन्होंने धर्म का सार माने गये कर्मकाण्ड़ की जगह सदाचार की स्थापना की । यद्यपि धम्म शब्द का प्रयोग ब्राह्मण आचार्य और बुद्ध दोनों ने भी किया है, लेकिन इन दोनों की दृष्टि में इस शब्द का अर्थ

मूलतः क्रांतिकारी भेद रखता है। वास्तविकता के तौर पर तो हम यूँ कह सकते हैं कि बुद्ध विश्व के पहले ऐसे धर्म संस्थापक है जिन्होंने सदाचार को धर्म का सार तथा नींव बनाया। कृष्ण भी, जैसा कि भगवद् गीता से देखा जा सकता है, अपने आप को धर्म की यज्ञ-याग जैसे कर्मकाण्ड के बराबर होने की संकल्पना से पृथक् नहीं कर सके थे। कृष्णद्वारा भगवद् गीता में चर्चित *निष्काम कर्म* अथवा *अनासक्तियोग* के दर्शन से काफी लोग मंत्रमुग्ध हुए नज़र आते हैं। बच्चों के स्काऊट में जिस प्रकार किसी इनाम की आशा किए बगैर नेकी से अपना काम करने की शिक्षा दी जाती है, कुछ बैसे ही अर्थ से यह बात वहाँ कही गयी है। वह उसके वास्तविक अर्थ से परे तथा संपूर्णतया गलत अर्थ से कही गयी है। *निष्काम कर्म* इस शब्दप्रयोग से कर्म करने की क्रिया के अर्थ से किया गया 'कर्म' नहीं समझा गया है। अपितु ब्राह्मणों ने और जैमिनी ने मूलतः उसका जिस अर्थ से प्रयोग किया है उसी (यज्ञ-याजनादि कर्मकाण्ड़ के) अर्थ से उसका गीता में प्रयोग किया गया है। कर्मकाण्ड़ के मुद्दे को लेकर जैमिनी और भगवद् गीता में एक ही अंतर है। ब्राह्मण जिस कर्मकाण्ड़ के आदी थे उसके दो प्रकार थे : १) नित्य कर्म और २) नैमित्तिक कर्म।

नित्य कर्म वह कर्मकाण्ड़ था जिस का हर रोज लगातार पालन करना जरुरी समझा जाता था। इसी कारण उसे नित्य कहा गया था और उसका धार्मिकता के तौर पर पालन कर जाने के कारण उसे निष्काम याने किसी प्राप्ति की आशा से परे माना गया था। इसी कारण उन्हें निष्काम कर्म कहा जाता था। दूसरे प्रकार के कर्म *नैमित्तिक* कहलाते थे, जिसके माने यह था कि वे समय आने पर अर्थात् किसी प्रकार की कामना निर्माण होने पर किए जाते थे। उन्हें *काम्य कर्म* भी

कहा जाता था क्योंकि उनके करने से कुछ फल प्राप्ती की आशा की जाती थी। कृष्ण ने भगवद् गीता में जिन कर्मों की निन्दा की, वे थे काम्य कर्म। उसने निष्काम कर्मों की निन्दा नहीं की। उलट उनकी भूरी भूरी प्रशंसा की है। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि कृष्ण के विचार में भी धर्म सदाचार को लेकर नहीं बनता था बल्कि यज्ञ, यजनादि कर्मकाण्ड़ को लेकर बनता था, चाहे वह कर्मकाण्ड़ *निष्काम कर्म* प्रकार का भी क्यों न हो।

हिंदु धर्म और बौद्ध धम्म में विसंगती दिखानेवाली यह एक बात है। विसंगती की दूसरी बात, हिंदु धर्म का अधिकृत दर्शन असमानता पर आधारित है, इस वास्तविकता से संबंधित है। क्योंकि हिंदु धर्म का चातुर्वर्ण्य का सिद्धान्त इस असमानता का ठोस रूप है। इसके विपरित बुद्ध समानता के समर्थक थे। वे चातुर्वर्ण्य के कट्टर विरोधी थे। उन्होंने न केवल उसके विरुद्ध प्रचार किया और नहीं केवल उसके खिलाफ संघर्ष छेडा, लेकिन उसको जड़ से उखाड़ फेंकने की हरदम कोशिश की। हिंदु धर्म की शिक्षा के अनुसार न केवल शूद्र को, परंतु नारी को भी, धर्मोपदेशक बनने का अधिकार नहीं था। न ही वे संन्यास ले सकते थे और ईश्वर तक पहुँच सकते थे। बुद्ध ने दूसरी ओर शूद्रों को भी भिक्षु संघ में दाखिल किया। उन्होंने नारी को भी भिक्षुणी बनने की अनुज्ञा दी। उन्होंने ऐसा क्यों किया ? लगता है कि बुद्ध ने उठाए इन कदमों का वास्तविक महत्व बहुत कम लोग समझ पाये हैं। इसका उत्तर यही है कि असमानता की शिक्षा को नष्ट करने के लिए बुद्ध बिल्कुल ठोस कदम उठाना चाहते थे। बुद्ध द्वारा किये गये इन आघातों के कारण ही हिंदु धर्म को अपने सिद्धान्तों में काफी परिवर्तन करने पड़े। हिंदु धर्म ने हिंसा का त्या किया। वह वेदों के अस्खलनशील होने का

दावा भी छोड़ देने पर राजी था। चातुर्वर्ण्य के मामले में दोनों में से कोई भी झुकने के लिए तैयार न था। बुद्ध चातुर्वर्ण्य की शिक्षा के खिलाफ अपना विरोध छोडने के लिए तैयार नहीं थे। यही कारण है कि ब्राह्मण जैन धर्म की अपेक्षा बुद्ध धम्म के विरुद्ध अधिक घृणा और शत्रुता जताता है। हिंदु धर्म को चातुर्वर्ण्य के खिलाफ किए बुद्ध के तर्कों का लोहा मानना ही पड़ा। वह उसने बौद्ध धम्म की दलीलों की शक्ति के सामने झुककर नहीं माना, बल्कि चातुर्वर्ण्य के लिए एक नया दार्शनिक तर्क ढूँढ़ कर माना। यह नया दार्शनिक तर्क भगवद् गीता में मिलता है। कोई भी व्यक्ति भरोसे के साथ यह नहीं कह सकता कि भगवद् गीता की शिक्षा क्या है ? लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि भगवद् गीता चातुर्वर्ण्य के सिद्धान्त का समर्थन करती है। वास्तविकता को मद्दे नजर रखते हुए ऐसा लगता है कि इसके लिखे जाने का यही प्रमुख कारण होगा। और भगवद् गीता इसका समर्थन कैसे करती है ? उसमें कृष्ण ने कहा है कि ईश्वर होने के नाते उसने चातुर्वर्ण्य का निर्माण *गुण-कर्म* के अनुसार किया है। इसका अर्थ यह है कि उसने व्यक्ति का दर्जा और पेशा (कार्य) उसके प्राकृतिक गुणों के अनुसार नियुक्त किये हैं। इसमें दो बातें बिल्कुल स्पष्ट हैं। एक यह कि यह सिद्धान्त नया है। पुराना सिद्धान्त विभिन्न था पुराने सिद्धान्त के अनुसार चातुर्वर्ण्य का सिद्धान्त वेदों पर आधारित था। चूंकि वेद अस्खलनशील याने अपतनशील थे, इसलिऐ उन पर आधारित चातुर्वर्ण्य व्यवस्था भी वैसे ही अपतनशी थी। वेदोंके अस्खलनशील होने के इस सिद्धान्त को बुद्ध के हमलों ने तोड देने के कारण चातुर्वर्ण्य की पुरानी नींव टूट चुकी थी। यह बहुत स्वाभाविक बात है कि हिंदु धर्म, जो चातुर्वर्ण्य के सिद्धान्त को त्यागना नहीं चाहता था, क्योंकि वह उसे अपनी आत्मा मानता था, अपने सिद्धान्त को

न्यायसंगत बनाने हेतु किसी नये और अधिक प्रभावशाली आधार की तलाश करें जैसा कि भगवद् गीता सुझाती है। लेकिन भगवद् गीता में चातुर्वर्ण्य के न्यायसंगत होने के लिए कृष्ण ने दिया हुआ यह नया तर्क कहां तक ठीक है ? लगभग सभी हिंदुओं को यह तर्क बिल्कुल न्यायसंगत नजर आता है। इसीलिए वे उसे खण्डन करने योग्य नहीं समझते। इतना ही नहीं, तो बहुत से गैर हिंदुओं को भी वह बात जँचती है और लुभाती है। यदि चातुर्वर्ण्य केवल वेदों पर टिका होता, तो मुझे विश्वास है कि वह कब का मिट चुका होता। स्पष्ट है कि गीता के इस झुठे और शरारतपूर्ण सिद्धान्त ने चातुर्वर्ण्य को - जो कि जाति-व्यवस्था की असली जड़ है - हमेशा जिंदा रहने का मौका दिया है। गीता के इस नये सिद्धन्त की मूल कल्पना सांख्य दर्शन से ली गयी है। उसमें कोई असलीयत नहीं है। चातुर्वर्ण्य को न्याय ठहराने में उसका इस्तेमाल करने कें ही कृष्ण का असली कौशल छिपा हुआ है। लेकिन ऐसा करने में कृष्ण कई भ्रांतियों के शिकार हुए हैं। सांख्य दर्शन के रचयिता कपिलमुनि का मत था कि ईश्वर नहीं है। ईश्वर का होना केवल इसीलिए जरुरी माना गया कि पदार्थ को मृत समझा जाता है। लेकिन पदार्थ मृत नहीं है। वह गतिशील है। पदार्थ तीन गुणों से युक्त है : रजस, तमस और सत्त्व। इन तीन गुणों के समानुपातित रहने पर प्रकृति मृतवत् लगती है। इनमें से किसी एक गुण का शेष गुणों से प्रबल हो जाने पर प्रकृति गतिशील बनती है। सांख्य दर्शन का सार तथा आशय बस्स इतना ही है। इस सिद्धान्त के साथ कोई वाद-विवाद नहीं हो सकता। शायद यह दुरुस्त भी है। इस लिए यह माना जा सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति का एक अंग होने के कारण इन तीन गुणों से युक्त होता है। इतना ही नहीं, बल्कि यह भी माना जा सकता है कि इन तीन गुणों में से प्रत्येक गुण शेष गुणों पर अधिकार जमाने के लिए मुकाबला करता

है। लेकिन यह कैसे माना जा सकता है कि किसी व्यक्ति विशेष में एक विशेष गुण, किसी समय - मानों जन्म के समय - शेष दो गुणों से प्रबल हो और वह व्यक्ति की मृत्यु तक सदा ही प्रबल रहे ? ऐसा मानने के लिए न सांख्य दर्शन में कोई आधार है और न व्यावहारिक अनुभव में। दुर्भाग्य से कृष्ण ने अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया तब तक न हिटलर पैदा हुआ था और न मुसोलिनी जन्मा था। वरना कृष्ण के लिए इस बात का स्पष्टीकरण करने की बड़ी मुसिबत पैदा होती थी कि एक विज्ञापन के फलक रंगानेवाला और दूसरा ईंटें रचानेवाला साधारण कारीगर संसार पर अमल चलानेवाले तानाशाह जैसे सामर्थ्य को कैसे प्राप्त कर पाएँ ? मुद्दे की बात यह है कि हर व्यक्ति की प्रकृति में लगातार परिवर्तन होता रहता है क्योंकि गुणों के आपसी सम्बंध भी लगातार बदलते रहते हैं। यदि हस तरह गुणों के आपसी प्रभावों में लगातार परिवर्तन होता हो तो उनके अनुसार मनुष्यों का चिरस्थाई तथा टिकाऊ वर्गीकरण नहीं किया जा सकता और न ही उनके व्यवसायों और धंदों का वैसे ही चिरस्थाई बंटवारा। इस तरह भगवद् गीता का समूचा सिद्धान्त ही टूटकर धाराशयी हो जाता है। लेकिन जैसा कि मैंने कहा है कि हिंदु इसकी तर्कसंगती तथा 'लुभावनी' सूरत के चक्कर में फंसकर उसके गुलाम बन गए हैं। परिणामस्वरूप हिंदु चातुर्वर्ण्य को उसके सामाजिक विषमता के सिद्धान्त के साथ अपना समर्थन देते रहे हैं। हिंदु धर्म की बहुत सारी बुराईयों में से ये दो हैं। बौद्ध धम्म इनसे मुक्त है।

भाग ३

ऐसे लोग, जो विश्वास रखते हैं कि केवल बुद्ध के दर्शन का स्वीकार ही हिंदुओं को बचा सकता है, स्वयं बहुत भारी निराशा के

शिकार हुएँ दिखाई देते हैं, क्योंकि उन्हें भारत में बुद्ध धम्म की वापसी तथा उसके पुनरुज्ञीवन के कोई चिन्ह दिखाई नहीं देते । मैं इस निराशावाद में शामिल नहीं हूँ ।

आज के हिंदु अपने धर्म के प्रति जिस प्रकार की भावना रखते हैं उससे वे दो वर्गों में बँट जाते हैं । एक वर्ग वह है जो मानता है कि हिंदू धर्म सहित सभी धर्म सच्चे हैं । और उनके इस नारे में अन्य धर्मों के नेता भी शामिल दिखाई देते हैं । सभी धर्म सच्चे हैं इससे अधिक झूठा सिद्धान्त नहीं हो सकता जिन हिंदूओं ने इसको उठाया है, वे अन्य धर्मों के अनुयायियों की सहायता करते हैं । हिंदुओं का दूसरा एक वर्ग है, जो जान चुका है कि उनके धर्म में कुछ कमी जरूर हैं । उनका दृष्टिकोन समझने लायक है । धर्म आदमी के सामाजिक उत्तराधिकार का एक अंग होता है । आदमी का जीवन उसकी शान और गौरव उससे जुड़े रहते हैं । इसी लिए अपने धर्म का त्याग करना किसी के लिए आसान नहीं होता । देशभक्ति भी बीच में आ जाती है । दुरुस्त या गलत 'मेरा देश' है । दुरुस्त या गलत 'मेरा धर्म' है । ऐसी भावना होती है । हिंदु अपने धर्म का त्याग करने के बजाय किसी तरह बच निकलने का उपाय खोजते हैं । कुछ यह सोचकर खुद का समाधान कर लेते हैं कि सभी धर्म गलत हैं, तो फिर धर्म के बारे में सोचे ही क्यों । 'देशभक्ति' का इसी प्रकार का भाव उन्हें खुले आम बौद्ध धम्म का स्वीकार करने से रोकता है । इस प्रकार के व्यवहार का एक ही परिणाम निकल सकता है । हिंदु धर्म का पतन होगा और एक जीवन नियामक शक्ति के रूप में वह समाप्त हो जाएगा । एक शून्यवत् स्थिति पैदा होगी जिसके प्रभाव से हिंदु समाज तुकड़े-तुकड़े हो जाएगा । तब हिंदुओं को विवश होकर अधिक सूझबूझ दिखानी पड़ेगी । जब वे सूझ-बूझ से काम लेने की

सोचेंगे, तब सिवाय बुद्ध धम्म के और किसी ओर नहीं जा सकेंगे ।

आशा की केवल यही एकमात्र किरण नहीं है । कई अन्य दिशाओं से भी उम्मीद झलकती है ।

एक प्रश्न है जिसका उत्तर प्रत्येक धर्म को जरूर देना चाहिए । शोषितों और पैरों तले कुचलों के लिए वह किस तरह की मानसिक और नैतिक राहत पहुँचाता है ? यदि वह ऐसा नहीं कर सकता हो तो उसका अन्त ही होगा । क्या हिंदु धर्म पिछड़े वर्गों और अछूत जन-जातियों के करोडों लोगों को कोई मानसिक और नैतिक राहत पहुँचाता है ? निश्चित नहीं । क्या हिंदु इन पिछड़े वर्गों और अछूत जन-जातियों से यह आशा रख सकते हैं कि बगैर किसी मानसिक और नैतिक राहत की उम्मीद किए वे उस धर्म को चिपके रहेंगे ? इस तरह की आशा रखना सर्वथा व्यर्थ होगा । हिंदु धर्म ज्वालामुखी पर सवार हुआ है । आज वह ज्वालामुखी बुझा हुआ नज़र आता है । लेकिन वह बुझा हुआ नहीं है । एक बार यह करोड़ों का शक्तिशाली समूह अपने पतन के बारे में सचेत हो जाएगा और यह समझ जाएगा कि अधिकतर हिंदु धर्म के सामाजिक दर्शन के कारण ही ऐसा हुआ है, तब यह ज्वालामुखी फिर से फट पड़ेगा । रोमन साम्राज्य में फैले मूर्तिपूजन को ईसाई धर्म द्वारा बाहर फेंक दिए जाने की बात यहाँ याद आती है । जैसे ही लोगों को यह एहसास हुआ कि मूर्तिपूजन से उन्हें किसी तरह की मानसिक और नैतिक राहत मिलनेवाली नहीं है, तो उन्होंने उसका त्याग किया और ईसाई धर्म को अपनाया । जो रोम में हुआ वही भारत में जरूर होगा । हिंदु लोगों को समझ आनेपर वे निश्चय ही बौद्ध धम्म की ओर ही मुड़ेंगे।

भाग ४

हिंदु धर्म और बौद्ध धर्म के बिच तुलना के तौर पर ये रहीं कुछ बातें। हिंदु धर्म के अलावा अन्य धर्मों की तुलना में बौद्ध धम्म का क्या स्थान है ? इन गैर-हिंदु धर्मो को एकेक लेकर उनकी बौद्ध धम्म के साथ विस्तारपूर्वक तुलना करना यहाँ असंभव है। मैं तो केवल इतना ही कर सकता हूँ कि मेरे निष्कर्षों को संक्षिप्त रूप में पेश कर दूँ। मेरी यह मान्यता है कि :

१. समाज को अपनी एकता को बनाए रखने के लिए या तो कानून का बंधन स्वीकारना पड़ेगा या फिर नैतिकता का। दोनों के अभाव में समाज निश्चय ही टुकड़े-टुकड़े हो जाएगा। सभी प्रकार के समाज में कानून की भूमिका अत्यल्प होती है। उसका उद्देश होता है (कानून तोड़नेवाले) अल्पसंख्यकों को सामाजिक अनुशासन की सीमा में रखना। बहुसंख्यकों को मात्र अपना सामाजिक जीवन बिताने के लिए नैतिकता के प्रामाण्य और अधिकार पर छोड़ दिया जाता है, नहीं छोडना ही पडता है। इसलिए धर्म को नैतिकता के अर्थ में प्रत्येक समाज के अनुशासन का तत्त्व बने रहना चाहिऐ।

२. धर्म की उपर्युक्त परिभाषा विज्ञान के अनुकूल होनी चाहिए। यदि धर्म विज्ञान की कसौटी पर खरा नहीं उतरता है तो वह अपने महत्त्व को खो कर हँसी और मजाक का विषय बन सकता है और जीवनानुशासन के तत्व-रूप में न केवल वह अपनी शक्ति खो बैठता है, बल्कि समय के साथ विच्छिन्न होकर समाज से लुप्त भी हो सकता है। दूसरे शब्दों में, धर्म को अगर वास्तव में कार्यशील होना है, तो उसे तर्क और विवेक पर आधारित होना

चाहिए । इसका ही दूसरा नाम विज्ञान है ।

३. सामाजिक नैतिकता की संहिता के रूप में ठहरने के लिए धर्म को चाहिए कि वह समता, स्वतंत्रता और बंधुता के बुनियादी तत्वों को मान्य करें। समाज जीवन के इन तीन तत्वों का स्वीकार किए बगैर कोई भी धर्म जिंदा नहीं रह सकता ।

४. धर्म ने निर्धनता को पवित्रता नहीं बक्शनी चाहिए अथवा उसका उदात्तीकरण नहीं करना चाहिए । धनवानों के लिए निर्धन बनना चाहे संतोषदायी हो भी। परंतु निर्धनता कभी संतोषदायी नहीं होती । निर्धनता को संतोषकारी घोषित करना धर्म का विपर्यास है, बुराई और अपराध को बढ़ावा देना है तथा इस संसार को प्रत्यक्षात नर्क में ढ़ालना है ।

कौन सा धर्म इन आवश्यकताओं को पूरा करता है ? इस प्रश्न का विचार करते वक्त इस बात को याद रखना चाहिए कि सन्त-महात्माओं के निर्माण के दिन अब बित चुके हैं और संसार में कोई नया धर्म पैदा होनेवाला नहीं है । संसार को प्रचलित धर्मों में से ही किसी एक को चुनना होगा । इसलिए इस प्रश्न का विचार प्रचलित धर्मों तक ही सीमित रखना चाहिए ।

हो सकता है कि प्रचलित धर्मों में से कोई एक धर्म उपरोक्त मापदण्ड़ों में किसी एक कसौटी पर खरा उतरता हो या कोई दो पर । परंतु प्रश्न यह है कि क्या कोई ऐसा धर्म है जो इन तमाम मापदण्ड़ों की कसौटी पर खरा उतरता है ? जहाँ तक मेरी जानकारी है इन तमाम माप-दण्ड़ों की कसौटी पर खरा उतरनेवाला केवल एक ही धर्म है, और वह है बौद्ध धम्म । दुसरे शब्दों में केवल बौद्ध धम्म ही ऐसा धर्म है जिसे

नया जगत् अपना सकता है। यदि नये जगत् को - और यह ध्यान रहे कि यह नया जगत् पुराने जगत् से सर्वथा भिन्न है - किसी धर्म को अपनाना ही हो-और नये जगत् को पुराने जगत की अपेक्षा धर्म की अत्यधिक जरूरत है - तो वह केवल बुद्ध का धम्म ही हो सकता है ।

ये तमाम बातें शायद आश्चर्यजनक प्रतीत होतीं हो । यह इसलिए कि बुद्ध के सम्बद्ध में लिखनेवालों में से अधिकांश लोगों ने केवल इसी कल्पना का प्रचार किया है कि बुद्ध ने सिर्फ एक ही शिक्षा दी है; और वह है अहिंसा की । यह बहुत बड़ी गलती है । यह सच है कि बुद्ध ने अहिंसा की शिक्षा दी है । मैं उसके महत्त्व को कम नहीं करना चाहता हूँ। क्योंकि वह एक महान सिद्धान्त है । उस पर अमल किए बगैर संसार को बचाया नहीं जा सकता । मैं जिस बात पर बल देना चाहता हूँ वह यह कि अहिंसा के अतिरिक्त बुद्ध ने और बहुत-सी बातों की शिक्षा दी है। अपने धर्म के अंग के तौर पर उन्होंने सामाजिक, बौद्धिक, आर्थिक और राजनैतिक स्वतंत्रता की शिक्षा दी है । उन्होंने समानता की शिक्षा दी, न केवल पुरुष और पुरुष के बीच समानता की बल्कि पुरुष और स्त्री के बीच समानता की भी । बुद्ध की तुलना में अन्य कोई ऐसे धर्म संस्थापक को खोजना कठिन होगा कि जिसकी शिक्षा लोगों के सामाजिक जीवन के इतने सारे पहलुओं को स्पर्श करती हो और जिसके सिद्धान्त इतने आधुनिक हों और जिसका मुख्य उद्देश्य इन्सान को इसी धरती पर इसी जीवन में विमुक्ति दिलाना हो, न कि मृत्यु के बाद स्वर्ग का वादा करना ।

भाग ५

बौद्ध धम्म के प्रसार का यह आदर्श प्रत्यक्षतः कैसे लाया जाए ? इसके लिए तीन कदम उठाना ज़रुरी दिखाई देता है ।

प्रथम : बुद्ध धम्म की (बाईबल जैसी) एक धार्मिक पुस्तक तैयार करना ।

दूसरा : भिक्षु संघ के संगठन, उसके ध्येय और उद्देश्यों में परिवर्तन करना ।

तीसरा : एक विश्व बौद्ध मिशन स्थापित करना ।

बौद्ध धम्म के लिए बाईबल जैसे एक किताब का निर्माण करना यह सर्व प्रथम आवश्यकता है । बौद्ध वाङ्गमय अति विशाल है । जो व्यक्ति बुद्ध धम्म का सार जानना चाहता है उससे इस वाङ्गमय समुंदर को पार करने की आशा रखना असंभव है । बुद्ध धम्म की तुलना में अन्य धर्मों में अधिक लाभ पहुँचानेवाली बात यह है कि उनकी अपनी ऐसी एक ही धर्म-पुस्तक है कि कोई भी आदमी उसे सहजता से अपने साथ रख सकता है और जी चाहे तब पढ़ सकता है । यह बहुत ही सुविधाजनक बात होती है । ऐसी सुविधाजनक धर्म-पुस्तक के अभाव में बुद्ध धम्म की हानि होती है । एक धर्म-ग्रंथ से जो आशा की जाती है वह भूमिका निभाने में भारतीय धम्मपद असफल रहा है । प्रत्येक महान धर्म का निर्माण श्रद्धा की आधारशीला पर किया गया है । किंतु श्रद्धा को यदि सांप्रदायिकता और अमूर्त तत्वों के रूप में पेश किया तो वह पचता नहीं । श्रद्धा के लिए जिससे कल्पनाशक्ति जुड़ जाए ऐसी कोई कल्पित कथा, या वीरगाथा अथवा शिक्षा की, जिसे आधुनिक पत्रकारी में कहानी कहते हैं, जरुरत होती है । धम्मपद इस तरह किसी कहानी में गुँथा हुआ नहीं है । वह अमूर्त तत्वों के सहारे श्रद्धा को बढ़ाना चाहता है।

बौद्धों के इस प्रस्थावित धर्म-ग्रंथ में ये कुछ होना चाहिए :

१) बुद्ध का संक्षिप्त चरित्र, २) चिनी धर्मपद, ३) बुद्ध के कुछ महत्वपूर्ण उपदेश, और ४) जन्म, धर्म-दिक्षा, विवाह और मृत्यु सम्बंधी

बौद्ध संस्कार-विधि । इस प्रकार की धर्म-पुस्तक तैयार करते वक्त उसकी भाषा की ओर कदापि दुर्लक्ष न किया जाय । उसकी रचना में भाषा का प्रयोग इस प्रकार होना चाहिए कि उससे वह भाषा जीती-जागती लगें । वह पुस्तक किसी कथा-कथन या सिद्धान्तों का निरूपण पढ़ने जैसी होने की बजाए गुनगुनाए जानेवाली होनी चाहिए । भाषा की रचना-शैली सहजगम्य, भावविभोर तथा मोहित करनेवाली होती चाहिए।

एक हिंदु संन्यासी और बौद्ध भिक्षु में जमीन अस्मान का अंतर होता है । हिंदु संन्यासी को संसार से कोई वास्ता नहीं होता । संसार की दृष्टी में वह मर जाता है । एक भिक्षु का हर एक दृष्टि से संसार के साथ नाता होता है । वस्तुस्थिति ऐसी होने से एक प्रश्न उठता है । किस उद्देश्य को सामने रखकर बुद्ध ने भिक्षु संघ का निर्माण करने की कल्पना की ? भिक्षुओं का एक अलग समाज स्थापित करने की क्या आवश्यकता थी ? इसका एक उद्देश्य यह था कि बौद्ध सिद्धान्तों में संग्रहित आदर्शों के अनुसार जीवन व्यतीत करनेवाले लोगों का एक ऐसा समाज बनाया जाए जो उपासकों के लिए एक नमुने के रूप में काम आए । बुद्ध को इस बात का पता था कि जनसामान्य को बुद्ध के आदर्शों का साक्षात्कार करना संभव नहीं था । परंतु इसी के साथ वे यह भी चाहते थे कि सामान्य जन इस आदर्शोंको जाने और यह भी कि उनके समक्ष इन आदर्शों पर अमल करने के लिए वचनबद्ध समाज का उदाहरण रखा जाए । इसीलिए उन्होंने भिक्षु संघ का निर्माण किया और उसे विनय के नियमों से बांध दिया । परंतु इसी के साथ उनके मन में अन्य भी उद्देश्य थे जिनके कारण उन्होंने संघ की स्थापना करने का विचार किया । उनमें से एक यह था कि उपासकों के लिए सही पक्षपातरहित, मार्गदर्शन करनेवालों का एक संगठन किया जाए । इसी

जनता की सेवा करनेवाला भिक्षु होना चाहिए.

वजह से उन्होंने भिक्षुओं को संपत्ति का संग्रह करने से मना किया। स्वतंत्र चिंतन और स्वतंत्र आचरण करने में संपत्ति का स्वामित्व सब से बडी बाधाओं में से एक है। भिक्षु संघ स्थापित करने का बुद्ध का दूसरा उद्देश्य यह था कि एक ऐसा समाज स्थापित किया जाए जो जनता की सेवा करने में बिल्कुल स्वतंत्र हो। इसी लिए वे चाहते थे कि भिक्षु विवाह न करें।

क्या आज का भिक्षु संघ इन आदर्शों पर चलता है ? इसका जबाब जोरदार न में है। वह न तो जनता का मार्गदर्शन करता है और न ही उसकी सेवा।

इसलिए भिक्षु संघ अपनी मौजूदा हालत में बुद्ध धम्म के प्रसारकार्य के बिल्कुल योग्य नहीं है। पहली बात तो यह है कि भिक्षुओं की संख्या भी अत्यधिक है। उनमें से साधु-संन्यासियों जैसी ध्यान-धारना में व्यस्त रहनेवालों की या तो फिजूल वक्त बरबाद करनेवालों की संख्या भी बहुत भारी है। उनमें न तो विद्वत्ता है, न ही सेवा भाव। जब किसी को पीडित मानवता की सेवा करने का ख्याल आता है, तो हर कोई रामकृष्ण मिशन को ही याद करता है। बौद्ध संघ को कोई याद नहीं करता। आखिर सेवा करना किस का श्रद्धामय कर्तव्य होना चाहिए ? संघ का या रामकृष्ण मिशन का ? इसके बारे में किसी को भी कोई संदेह नहीं हो सकता। फिर भी संघ बेकार लोगों की एक सेना है। हम संख्या में कम भिक्षु चाहते हैं, और चाहते हैं कि वे उँची कोटी के विद्वान हो। भिक्षु संघ को चाहिए कि वह ईसाई पादरियों से और खास कर जेसुईट पादरियों से कुछ बातें सिखें। एशिया में ईसाई धर्म का फेलाव विद्या और चिकित्सा द्वारा की गई सेवाओं से हुआ है। ईसाई धर्म के लिए यह इसलिए संभव हुआ कि ईसाई पादरी न केवल अपने धर्म के ज्ञानी होते

हैं बल्कि वे कला और विज्ञान में भी प्रवीण होते हैं। वास्तव में पुराने काल से भिक्षुओं का यही आदर्श रहा है। जैसा कि सर्वज्ञात है कि नालंदा और तक्षशिला विश्वविद्यालयों का संचालन भिक्षुओं द्वारा भिक्षुओं को नियुक्त कर के हो जाता था। स्पष्ट है कि वे जरूर विद्वान लोग होंगे और यह भली भाँति जानते होंगे कि अपने धर्म के प्रसार के लिए सामाजिक सेवा अत्यावश्यक है। आज के भिक्षूओं को अपने पुराने आदर्श की ओर लौटना चाहिए। आज की स्थिति में पाया जाने वाला संघ जनता की इस प्रकार सेवा नहीं कर सकता हैं और न ही लोगों को अपनी ओर आकर्षित कर सकता है।

एक मिशन स्थापित किए बिना बुद्ध धम्म का फैलाव होना संभव नहीं। जिस प्रकार शिक्षा देनी पड़ती है उसी प्रकार धम्म का भी प्रचार करना जरुरी होता है। प्रचार का कार्य बिना मनुष्यों के और बिना धन से नहीं किया जा सकता। इसकी पूर्ति कौन कर सकता है ? अर्थात् वे ही देश इसकी पूर्ति कर सकते हैं, जहाँ बौद्ध धम्म एक जीवित धर्म है। वे ही देश हैं जिन को कम से कम प्रचार के आरम्भिक काल में आदमी और धन जुटाने चाहिए। क्या वे ऐसा करेंगे ? बुद्ध धम्म के फैलाव के लिए आवश्यक जोश उन में दिखाई नहीं देता है।

दूसरी ओर बुद्ध धम्म के प्रसार के लिए प्रस्तुत समय बिल्कुल अनुकूल सा दिखाई देता है। एक समय था जब धर्म आदमी के उत्तराधिकार का अंग हुआ करता था। एक समय था जब कोई लड़का या लड़की अपने माता-पिता की पैतृक-संपत्ति के साथ साथ उनके धर्म को भी उत्तराधिकार में पाते थे। तब धर्म के गुण और अवगुणों की परख करने का सवाल ही नहीं उठता था। कभी कभी कोई उत्तराधिकारी यह प्रश्न तो उठाता था कि क्या वह पैतृकसम्पत्ति प्राप्त करने योग्य भी है ?

Dh. Vivek bhadra

परंतु ऐसा कोई उत्तराधिकारी नहीं था जो यह प्रश्न करता कि क्या उसके मातापिता का धर्म अपनाने योग्य है ? लगता है कि अब समय बदल चुका है। संसार भर में अब बहुत से लोगों ने उत्तराधिकार में पाए जाने वाले अपने धर्म के बारे में प्रश्न करने का अद्‌भुत साहस दिखाया है। बहुत से लोग, उन पर पड़े वैज्ञानिक अनवेन्शन पद्धति के प्रभाव के कारण, इस नतिजे पर पहुँचे हैं कि धर्म एक गलती है और उसका त्याग करना जरुरी है। दूसरे ऐसे लोग हैं जो मार्क्स की साम्यवादी शिक्षा के कारण इस नतिजे पर पहुँचे हैं कि धर्म एक अफीम है, जो निर्धनों को धनवानों के प्रभुत्व के सामने सर झुकाने पर मजबूर करता है और इसलिए उसको फैंक देना चाहिए। कारण चाहे कुछ भी हो, यह सत्य है कि धर्म के बारे में लोगों के मन में जाँच-पडताल करने की भावना पैदा हो चुकी है। और सोचने का साहस करने वालों के मन में तो सब से पहले यह भी प्रश्न उठते हैं कि क्या कोई धर्म अपनाने योग्य है भी ? और यदि है तो कौनसा ? अब समय आया है। अब जरुरत है दृढ संकल्प की। यदि वे देश, जो बौद्ध हैं, बुद्ध धम्म के प्रसार का संकल्प बढ़ाते हैं तो यह कार्य कठिन नहीं होगा। उन्होंनेइस बात को जरूर महसूस करना चाहिए कि केवल एक अच्छा बौद्ध होना ही किसी का कर्तव्य नहीं है। बल्कि उसका कर्तव्य है कि वह बुद्ध धर्म का प्रसार भी करें। उन्हें यह मानना ही होगा कि बुद्ध धम्म का प्रसार करना ही वास्तविक मानवता की सेवा करना है।

★ ★